

सर्वोदयी विचारों की अवधारणा के प्रेरक जैन सिद्धान्त

—डा. श्रीमती शारदा स्वरूप

‘कृज आश्रम’, बाँसगण्डी, मुरादाबाद-२४४००१

‘जैनधर्म ने संसार को अहिंसा का सन्देश दिया। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के हाथों में यह सद्गुण शक्तिशाली शस्त्र बन गया, जिसके द्वारा उन्होंने ऐसी आश्चर्यजनक सफलतायें प्राप्त कीं, जिन्हें आज तक विश्व ने देखा ही न था। क्या यह कहना उचित न होगा कि गाँधीवाद जैनधर्म का ही दूसरा रूप है? जिस हृद तक जैनधर्म में अहिंसा और संन्यास का पालन किया गया है वह त्याग की एक महात् शिक्षा है।^१

‘महात्मा’ बनने से पूर्व, जब गाँधी में ‘महात् आत्मा’ के गुणों का क्रमिक विकास हो रहा था, श्री रायचन्द जी से जैनागम की शिक्षा-ग्रहण करने का उल्लेख उन्होंने स्वयं ‘हरिजन’ में किया है। ‘अहिंसा’ महात्मा गाँधी का स्पर्श पाकर विश्व में अमर हो गई।

‘सर्वोदय’ की व्यापक, महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली भावना, सिद्धांतरूप से, जैनदर्शन की जड़ों में रची-बसी है। वहाँ से ग्रहण कर, स्वतन्त्र भारत के विस्तृत परिप्रेक्ष्य में, व्यावहारिक रूप में उसे प्रस्तुत करने का श्रेय महान सन्त विनोबा भावे को है।

‘युक्त्यनुशासन’ के रचयिता, आचार्य श्री समन्तभद्र का स्थितिकाल आज से १७०० वर्ष से भी अधिक पूर्व माना जाता है। उन्होंने महावीर के उपदेश को ‘सर्वोदय-तोर्य’ की संज्ञा दी है—

सर्वान्तवत्तद्गुण मुख्यकल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।

सर्वापदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तद्वत् ॥^२

यहाँ ‘सर्वोदय’ शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ की ओर दृष्टिपात करना समीचीन होगा। ‘सर्वेषां उदयः = सर्वोदयः—सबका उदय। उत् उपसर्गपूर्वक, गत्यर्थक इण् (धातु) में अच् प्रत्यय लगाने से उदय भाववाचक संज्ञा बनती है। ‘सबकी उन्नति’ इसका अभिप्राय हुआ। सबकी उन्नति ही सर्वोदय है।

उपर्युक्त श्लोक में ‘तीर्थकर महावीर द्वारा प्रतिपादित, अनादिकाल से समागत’ जिन-सिद्धान्त सभी आपदाओं का अन्त करने वाला सबके विकास का हेतु है। इसी तत्त्व को रेखांकित किया गया है। सबको उन्नति के समान अवसर प्राप्त हों, सुख और ज्ञान पर किसी का एकाधिकार न हो, सर्वोच्च पद किसी व्यक्ति, जाति, वर्ग विशेष को सम्पत्ति न हो—यही है सर्वोदयी स्थिति।

१ दृष्टव्य—श्री पी. एस. कुमारस्वामी की कृति—भगवान् महावीर और उनका तत्त्वदर्शन—पृ. सं. ५३७, प्रकाशक—जैन साहित्य समिति, देहली।

२ दृष्टव्य—युक्त्यनुशासन श्लोक ६१

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

एक प्रकार से विचार किया जाय, तो 'सर्वोदय' इस छोटे-से पद में जैनधर्म के सभी प्रमुख सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है। कर्तावाद का, यहाँ निषेध है। कोई सर्वशक्तिमान, सृष्टि का कर्ता धर्ता-हर्ता नहीं है और न ही कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-हर्ता है। एक कर्तावाद और बहु-कर्तावाद दोनों ही अमान्य हैं। इसी प्रकार जेनागम जगत् को स्वयंसिद्ध मानता है। यह अनादि है अनन्त है। इसका कभी सर्वथा नाश नहीं होता। परिवर्तन का क्रम निरन्तर जारी रहता है। "यह नित्यानित्यात्मक है, इसकी नित्यता स्वतःसिद्ध है और परिवर्तन इसका स्वभावगत धर्म है।"¹

जैनदर्शन में 'धर्म' का शब्द का अर्थ अति व्यापक एवं वैज्ञानिक है।

वह 'धियते लोकोऽनेन' अथवा 'धरति लोकम्'² मात्र न होकर स्वभाव (Nature, disposition, essential quality, attribute) को द्योतित करता है। जिस प्रकार जल का स्वभाव शीतलता है, अग्नि का दाहकता है, आत्मा का धर्म है 'मोहक्षोभविहीन-समतापरिणाम'। इसकी सर्वग्राह्य परिभाषा रत्नकरण्ड श्रावकाचार के द्वितीय श्लोक में आचार्य समन्तभद्र ने निम्नांकित शब्दों में प्रस्तुत की है—

"संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।"³
अर्थात्—जो प्राणियों को संसार दुःख से निकालकर उत्तम सुख में पहुँचा दे, वही धर्म है। संसार का प्रत्येक प्राणी सुखोपलब्धि की आकांक्षा रखता है और दुःख से दूर भागता है। यह भी उसका स्वभाव ही है।

अहिंसा जैनदर्शन का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसका अभिप्राय है—प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा और

महत्ता है—उसको पहचानना, उसके प्रति यथा-सम्भव उदारता का व्यवहार करना। "Do unto others as you would like them to do unto you." दूसरों के प्रति वैसे ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि हम अपने लिए अपेक्षा करते हैं। लिंग, वर्ण, जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्रीयता आदि के भेद होते हुए भी जीवन का पवित्र अस्तित्व है। भारतवासी भी उतना ही श्रेष्ठ है जितना अफ्रीका अथवा अमरीका देश में रहने वाला।

"शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुः शुद्ध्यास्तु तादृशः।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धो ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥"³

जैन आचार-शास्त्र यह मानता है कि 'ऐसा शूद्र भी जिसके उपकरण व आचरण शुद्ध हों, अन्य उच्च वर्णों के समान धर्म-पालन करने योग्य है; क्योंकि जाति से हीन आत्मा भी कालादिक लब्धि को पाकर जैनधर्म का अधिकारी होता है।' अभिप्राय यही हुआ कि योग्य गुणों के अस्तित्व पर जाति निर्भर करती है। इसी तथ्य को सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध संस्कृत-नाटककार भवभूति ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"शिशुत्वं स्त्रेणं वा भवतु ननु वन्द्यासि जगतम्।

गुणाः पूजास्थानं गुणेषु न च लिंगं न च वयः ॥"⁴

पूजनीया अरुन्धती तथा पिता जनक के सम्मुख सीता भले ही छोटी बालिका सरीखी हों परन्तु वन्दनीय है। लिंग अथवा आयु किसी की महनीयता के मापदण्ड नहीं होते। गुणियों में गुण ही पूजा के अधिष्ठान होते हैं।

सत्य बोलना और दूसरे की सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार करना भी सर्वोदय के पोषक

१ दृष्टव्य—सर्वोदय तीर्थ, पृ० ८ लेखक—डा० हुकुम-चन्द भारिल्ल।

२ दृष्टव्य—Practical Sanskrit-English Dictionary, V. S. Apte, p. 522.

३ दृष्टव्य—सागरधर्मामृते, आशाधरः—"भगवान् महावीर और उनका तत्त्वदर्शन"—पृ० सं० २६०।

४ दृष्टव्य—उत्तररामचरितम्—चतुर्थ अंक, श्लोक ११।

तत्त्वों में है। संसार के समस्त मतभेद, वैर, वैमनस्य, कथनी और करनी के अन्तर के कारण उत्पन्न होते हैं तथा जर, जन और जमीन अर्थात् स्त्री, धन और भूमि को लेकर पनपते हैं। व्यक्तिगत उदारता, पारस्परिक विश्वास एवं सुरक्षा भावना आज मानव-जीवन से लुप्तप्राय हो गई है। इन कल्याणमयी भावनाओं का शुभारम्भ, परिवार, कुटुम्ब और प्रतिवेशी से लेकर विस्तार तो समाज, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक अपेक्षित है।

भौतिक सुख-सुविधाओं और आवश्यकताओं का अन्त नहीं। इच्छा-पूर्ति की अन्धी दौड़ ने मानव-जीवन से सुख-शान्ति को कोसों दूर भगा दिया है। आवश्यक है ऐन्द्रिक सुख की लालसाओं और सम्पत्ति के अधिग्रहण पर संयम रखना। इससे सामाजिक न्याय को बल मिलेगा और उपभोग्य वस्तुओं के वितरण की समस्या सुलझेगी। समाज के अल्प प्रतिशत व्यक्ति अधिकांश सम्पत्ति के ठेकेदार बनकर बैठ जाते हैं जिससे दुर्बल वर्ग प्रतिदिन की जीवनोपयोगी वस्तुएँ भी नहीं जुटा पाता। समाज में असन्तुलन बढ़ता है, अपराधिक प्रवृत्तियाँ भी पनपती हैं। सन्तोषमूलक अपरिग्रह का पालन सरकार कानून बनाकर नहीं करवा सकती।

‘कबहुँक हौं यह रहनि रहौंगो।
यथालाभ सन्तोष कबहुँ काहू से कुछ न चहौंगो।’

‘यथालाभ सन्तोष’ पद का प्रयोग कर तुलसी ने अपरिग्रह के महत्त्व को रेखांकित कर दिया है।

पैतृक संस्कार, परिवेश, पालन-पोषण, खानपान जलवायु, भौगोलिक स्थिति, शिक्षा, व्यक्तिगत अनुभवादि अनेक तत्त्वों से प्रभावित होती है मनुष्य की चिन्तन प्रक्रिया। यही कारण है कि एक माता-पिता की अनेक सन्तानों का भी सोचने का ढंग—किसी घटना विशेष के प्रति प्रतिक्रिया पृथक्-पृथक् होती

है। विशाल परिप्रेक्ष्य में, यही वैचारिक वैमत्य, टकराहट को—स्वार्थ और प्रतिस्पर्धा को, विवाद और युद्ध को जन्म देता है। परन्तु जिस प्रकार कोई व्यक्ति पूर्ण नहीं, निर्दोष नहीं, उसी प्रकार कोई भी मत, धर्म, दर्शन सर्वांगसम्पन्न नहीं। सभी एकांगी हैं, अपूर्ण हैं। परन्तु जैनधर्म का स्याद्वाद सिद्धान्त सभी टकराहटों को आत्मसात् कर लेता है। सहिष्णुता के शीतल जल से अभिसिंचित करता है जैन विचारधारा से पादप के—

“अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं,

वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या ।

आकांक्षिणः स्यादिति वं निपातो,

गुणानपेक्षे नियमेऽपवादः ॥¹

अर्थात्—जिस प्रकार ‘वृक्षाः’ यद पद अनेक वृक्षों का वाचक होते हुए भी स्वभाव से ही पृथक् एक वृक्ष का भी द्योतन करता है, इसी प्रकार प्रत्येक पद का वाच्य एक तथा अनेक दोनों होते हैं। एक धर्म का कथन करते समय सहवर्ती दूसरे धर्म का लोप होने न पावे इस अभिप्राय से स्याद्वादी अपने प्रत्येक वाक्य के साथ स्यात्कार का प्रयोग करता है। यह निपात गोणीभूत धर्म की अपेक्षा न करते हुए भी उसका सर्व लोप होने नहीं देता है।

ईश्वर जगत् का निर्माता नहीं है—किसी को हानि-लाभ पहुँचाने से उसे कोई सम्बन्ध नहीं। वह पूजनीय है उन गुणों के कारण जिन्हें हम अपने जीवन में उतारकर तत्सदृश शुद्धात्म स्वरूप प्राप्त कर सकते हैं।

महावीर स्वामी से पूर्व तेईस तीर्थंकर हुए। सभी सामान्य जन-क्षत्रिय सन्तान—सांसारिक क्षुत्पिपासा, शीतोष्ण, मायामोह की सीमाओं में बँधे हुए थे। उन्होंने अपनी तपस्या के द्वारा केवल-ज्ञान प्राप्त किया—तीर्थंकरत्व प्राप्त किया अपने-अपने युग की अपेक्षाओं के अनुकूल। स्पष्ट है, कि (शेष पृष्ठ ३१० पर देखें)

१ दृष्टव्य जैनधर्मसार श्लोक संख्या ४०४

२६८

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम